भीतरकी शुद्धि*, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥

तथा इस लोक और परलोकके संपूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख दोषोंका बारम्बार विचार करना ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्तिका

---

* सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी तथा यथायोग्य वर्तावसे आचरणोंकी और जल मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको बाहरकी शुद्धि कहते हैं तथा राग, द्वेष और कपट आदि विकारोंका नाश होकर, अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि कही जाती है ।

अभाव और ममताका न होना तथा प्रिय अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना अर्थात् मनके अनुकूल तथा प्रतिकूलके प्राप्त होनेपर, हर्ष शोकादि विकारोंका न होना ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

और मुझ परमेश्वरमें एकीभावसे स्थितिरूप ध्यानयोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति* तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना ।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको ही अपना स्वामी मानते हुए, स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके, श्रद्धा और भावके सहित, परमप्रेमसे भगवान्का निरन्तर चिन्तन करना 'अव्यभिचारिणी' भक्ति है ।

तथा अध्यात्मज्ञानमें* नित्य स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना, यह सब तो ज्ञान† है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान‡ है ऐसे कहा है ॥ ११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

और हे अर्जुन ! जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूंगा, वह आदिरहित, परम-

---

*जिस ज्ञानके द्वारा आत्मवस्तु और अनात्म-वस्तु जानी जाय उस ज्ञानका नाम "अध्यात्म" ज्ञान है

† इस अध्यायके श्लोक ७ से लेकर यहांतक जो साधन कहे हैं वे सब तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु होनेसे "ज्ञान" नामसे कहे गये हैं ।

‡ ऊपर कहे हुए ज्ञानके साधनोंसे विपरीत जो मान, दम्भ, हिंसा आदि हैं वे अज्ञानकी वृद्धिमें हेतु होनेसे "अज्ञान" नामसे कहे गये हैं ।

ब्रह्म अकथनीय होनेसे न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है ॥ १२ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

परन्तु वह सब ओरसे हाथ पैरवाला एवं सब ओर-से नेत्र,सिर और मुखवाला तथा सब ओरसे श्रोत्रवाला है,क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है*

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

और संपूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परन्तु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है तथा आसक्तिरहित और गुणोंसे अतीत हुआ भी अपनी योगमायासे सबको धारण पोषण करनेवाला और गुणोंको भोगनेवाला है ॥ १४ ॥

---

* आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारणरूप होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है, वैसे ही परमात्मा भी सबका कारणरूप होनेसे

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥

तथा वह परमात्मा, चराचर सब भूतोंके बाहर भीतर परिपूर्ण है और चर अचररूप भी वही है और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है* तथा अति समीपमें† और दूरमें‡ भी स्थित वही है ॥१५॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ।१६।

संपूर्ण चराचर जगत्को व्याप्त करके स्थित है ।

* जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित हुआ जल, सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है ।

† वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सर्वका आत्मा होनेसे अत्यन्त समीप है ।

‡ श्रद्धारहित, अज्ञानी पुरुषोंके लिये न जाननेके कारण बहुत दूर है ।

और वह विभागरहित, एकरूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण हुआ भी चराचर संपूर्ण भूतोंमें पृथक् पृथक्के सदृश स्थित प्रतीत होता है* तथा वह जानने योग्य परमात्मा, विष्णुरूपसे भूतोंको धारण पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबका उत्पन्न करनेवाला है।१६।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

और वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति† एवं मायासे अति परे कहा जाता है तथा वह परमात्मा बोधस्वरूप और जाननेके योग्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है॥१७॥

---

* जैसे महाकाश विभागरहित स्थित हुआ भी घड़ोंमें पृथक् पृथक्के सदृश प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा सब भूतोंमें एकरूपसे स्थित हुआ भी पृथक् पृथक्की भांति प्रतीत होता है।

† गीता अ० १५ श्लोक १२ में देखना चाहिये।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार क्षेत्र* तथा ज्ञान† और जानने योग्य परमात्माका स्वरूप‡ संक्षेपसे कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥१८॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥

और हे अर्जुन ! प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी माया और जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ, इन दोनोंको ही तूं अनादि जान और रागद्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक संपूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए जान ॥१९॥

---

*श्लो० ५-६ में विकारसहित क्षेत्रका स्वरूप कहा है

†श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान अर्थात् ज्ञानका साधन कहा है ।

‡श्लोक १२ से १७ तक ज्ञेयका स्वरूप कहा है ।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

क्योंकि, कार्य* और करणके† उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुखदुःखों-के भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है ।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।२१।

परन्तु प्रकृतिमें‡ स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी

---

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनका नाम कार्य है ।

† बुद्धि, अहंकार और मन तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा इन १३ का नाम करण है ।

‡ प्रकृति शब्दका अर्थ गी० अ० ७ श्लो० १४ में कही हुई भगवान्‌की त्रिगुणमयी माया समझना चाहिये ।

बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है* ॥२१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥

वास्तवमें तो यह पुरुष इस देहमें स्थित हुआ भी पर अर्थात् त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है, केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता एवं सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता तथा ब्रह्मादिकोंका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा ऐसा कहा गया है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको

---

*सत्त्वगुणके सङ्गसे देवयोनिमें एवं रजोगुणके सङ्गसे मनुष्ययोनिमें और तमोगुणके सङ्गसे पशु, पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म होता है ।

जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है*वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी फिर नहीं जन्मता है अर्थात् पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है ॥२३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।२४।

हे अर्जुन ! उस परमपुरुष, परमात्माको, कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिसे, ध्यानके द्वारा† हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञान-

---

*दृश्यमात्र संपूर्ण जगत्, मायाका कार्य होनेसे क्षणभंगुर, नाशवान्, जड़ और अनित्य है तथा जीवात्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी एवं शुद्ध, बोधस्वरूप, सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही सनातन अंश है, इस प्रकार समझकर संपूर्ण मायिक पदार्थोंके सङ्गका सर्वथा त्याग करके परम पुरुष परमात्मामें ही एकीभावसे नित्य स्थित रहनेका नाम उनको "तत्त्वसे जानना" है ।

†जिसका वर्णन गीता अ० ६ में श्लोक ११ से

योगके* द्वारा देखते हैं और अपर कितने ही निष्काम कर्मयोगके† द्वारा देखते हैं ॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं वे स्वयम् इस प्रकार न जानते हुए, दूसरों-से अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं, अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर हुए साधन करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं ॥२५॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।

३२तक विस्तारपूर्वक किया है ।

*जिसका वर्णन गीता अ० २में श्लोक ११से ३०तक विस्तारपूर्वक किया है ।

†जिसका वर्णन गीता अ० २में श्लोक ४०से अध्यायसमाप्तिपर्यन्त विस्तारपूर्वक किया है ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे अर्जुन! यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है, उस संपूर्णको तूं क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान, अर्थात् प्रकृति और पुरुषके परस्परके संबन्धसे ही संपूर्ण जगत्की स्थिति है, वास्तवमें तो संपूर्ण जगत् नाशवान् और क्षणभंगुर होनेसे अनित्य है ॥२६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

इस प्रकार जानकर, जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें नाशरहित परमेश्वरको, समभावसे स्थित देखता है वही देखता है ॥२७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्

क्योंकि वह पुरुष सबमें समभावसे स्थित हुए परमेश्वरको समान देखता हुआ अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करता है, अर्थात् शरीरका नाश होनेसे

अपने आत्माका नाश नहीं मानता है, इससे वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥२८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति २९

और जो पुरुष संपूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिसे ही किये हुए देखता है अर्थात् इस बातको तत्त्वसे समझ लेता है कि, प्रकृतिसे उत्पन्न हुए संपूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं तथा आत्माको अकर्ता देखता है, वही देखता है ॥२९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

और यह पुरुष जिस कालमें भूतोंके न्यारे न्यारे भावको एक परमात्माके संकल्पके आधार स्थित देखता है तथा उस परमात्माके संकल्पसे ही संपूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है उस कालमें सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और गुणातीत होनेसे यह अविनाशी परमात्मा, शरीरमें स्थित हुआ भी वास्तवमें न करता है और न लिपायमान होता है ।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ३२

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिपायमान नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र देहमें स्थित हुआ भी आत्मा, गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोंसे लिपायमान नहींहोता है

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस संपूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा संपूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है, अर्थात् नित्य बोधस्वरूप एक आत्माकी ही सत्तासे संपूर्ण जड़वर्ग प्रकाशित होता है ॥३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको* तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको, जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥३४॥

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग-योगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥

*क्षेत्रको जड़, विकारी, क्षणिक और नाशवान् तथा क्षेत्रज्ञको नित्य, चेतन, अविकारी और अविनाशी जानना ही "उनके भेदको जानना" है।

उसके उपरान्त, श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन! ज्ञानोंमें भी अति उत्तम परमज्ञानको, मैं फिर भी तेरे-लिये कहूंगा, कि जिसको जानकर सब मुनिजन, इस संसारसे मुक्त होकर, परमसिद्धिको प्राप्त हो गये हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥

हे अर्जुन! इस ज्ञानको आश्रयकरके अर्थात् धारण करके, मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवसे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं ॥२॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥३॥

हे अर्जुन! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया, संपूर्ण भूतोंकी योनि है, अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूं, उस जड़चेतनके

संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥४॥

तथा हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियां अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूं।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

तथा हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ऐसे यह प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीनों गुण, इस अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बांधते हैं ॥५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥६॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें प्रकाश करनेवाला, निर्विकार सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानकी आसक्तिसे

अर्थात् ज्ञानके अभिमानसे बांधता है ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।७।

तथा हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुणको, कामना और आसक्तिसे उत्पन्न हुआ जान, वह इस जीवात्मा-को कर्मोंकी और उनके फलकी आसक्तिसे बांधता है

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।८।

और हे अर्जुन ! सर्व देहाभिमानियोंके मोहने-वाले तमोगुणको, अज्ञानसे उत्पन्न हुआ जान, वह इस जीवात्माको प्रमाद*, आलस्य† और निद्राके द्वारा बांधता है ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।

---

* इन्द्रियां और अन्तःकरणकी व्यर्थ चेष्टाओं-का नाम "प्रमाद" है ।

† कर्तव्यकर्ममें अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमताका नाम "आलस्य" है ।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।९।

क्योंकि हे अर्जुन ! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है और रजोगुण कर्ममें लगाता है तथा तमोगुण तो ज्ञानको आच्छादन करके अर्थात् ढकके, प्रमादमें भी लगाता है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।१०।

और हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर, सत्त्वगुण होता है अर्थात् बढ़ता है तथा रजोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है, वैसे ही तमोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर, रजोगुण बढ़ता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥

इसलिये जिस कालमें इस देहमें तथा अन्तः-करण और इन्द्रियोंमें, चेतनता और बोधशक्ति उत्पन्न होती है, उस कालमें ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

और हे अर्जुन ! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ और प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा, तथा सब प्रकारके कर्मोंका स्वार्थबुद्धिसे आरम्भ एवं अशान्ति अर्थात् मनकी चञ्चलता और विषयभोगोंकी लालसा, यह सब उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।१३।

तथा हे अर्जुन ! तमोगुणके बढ़नेपर, अन्तः-करण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश एवं कर्तव्यकर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियां यह सब ही उत्पन्न होते हैं ॥१३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।१४।

और हे अर्जुन ! जब यह जीवात्मा सत्त्वगुणकी

वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके मलरहित अर्थात् दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

और रजोगुणके बढ़नेपर अर्थात् जिस कालमें रजोगुण बढ़ता है उस कालमें मृत्युको प्राप्त होकर, कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ पुरुष कीट, पशु आदि मूढ़ योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥१५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।१६।

क्योंकि सात्त्विक कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है और राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

तथा सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निःसन्देह लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुणसे प्रमाद* और मोह† उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

इसलिये, सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष, स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं और रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष, मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा,प्रमाद और आलस्यादि-में स्थित हुए तामस पुरुष, अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं १८

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥

और हे अर्जुन ! जिस कालमें द्रष्टा, अर्थात्

---

*-† इसी अध्यायके श्लोक १३ में देखना चाहिये ।

समष्टि चेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं* ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्द-घनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस कालमें वह पुरुष, मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है १९

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।२०।

तथा यह पुरुष, इन स्थूल† शरीरकी उत्पत्ति-के कारणरूप, तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ, परमानन्दको प्राप्त होता है ॥२०॥

---

* त्रिगुणमयी मायासे उत्पन्न हुए अन्तःकरणके सहित इन्द्रियोंका अपने अपने विषयोंमें विचरना ही "गुणोंका गुणोंमें बर्तना" है ।

† बुद्धि,अहंकार और मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच भूत, पांच इन्द्रियोंके विषय,

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते २१

इस प्रकार भगवान्‌के रहस्ययुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुनने पूछा कि, हे पुरुषोत्तम! इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ पुरुष किन किन लक्षणोंसे युक्त होता है? और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता है? तथा हे प्रभो! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है? ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति २२

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान्

इस प्रकार इन २३ तत्त्वोंका पिण्डरूप यह स्थूल शरीर, प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका ही कार्य है, इसलिये इन तीनों गुणोंको इसकी उत्पत्तिका कारण कहा है।

बोले, हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको* और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको† भी न तो प्रवृत्त होनेपर बुरा समझता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा करता है‡ ॥२२॥

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ।२३।

---

* अन्तःकरण और इन्द्रियादिकोंमें आलस्यका अभाव होकर जो एक प्रकारकी चेतनता होती है, उसका नाम "प्रकाश" है ।

† निद्रा और आलस्य आदिकी बहुलतासे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनशक्तिके लय होनेको यहां "मोह" नामसे समझना चाहिये ।

‡ जो पुरुष एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही नित्य, एकीभावसे स्थित हुआ इस त्रिगुणमयी मायाके प्रपञ्चरूप संसारसे सर्वथा अतीत हो गया है, उस गुणातीत पुरुषके अभिमानरहित अन्तःकरणमें तीनों

तथा जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता है और गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं* ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता है ।२३।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

और जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ, दुःखसुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है २४

गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहादि वृत्तियोंके प्रकट होने और न होनेपर किसी कालमें भी इच्छा द्वेष आदि विकार नहीं होते हैं, यही उसके गुणोंसे अतीत होनेके प्रधान लक्षण हैं ।

* इसी अ० के श्लो० १९ की टिप्पणीमें देखना चाहिये।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते २५

तथा जो, मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, वह संपूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष, गुणातीत कहा जाता है ॥२५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते २६

और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूप योगके* द्वारा, मेरेको निरन्तर भजता है, वह इन तीनों गुणोंको अच्छी प्रकार उल्लङ्घन करके, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभाव होनेके लिये, योग्य होता है ।

---

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर वासुदेव भगवान्को ही अपना स्वामी मानता हुआ, स्वार्थ और अभिमानको त्यागकर, श्रद्धा और भावके सहित, परम प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करनेको "अव्यभिचारी भक्तियोग" कहते हैं ।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

तथा हे अर्जुन ! उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका, मैं ही आश्रय हूं अर्थात् उपरोक्त ब्रह्म,अमृत, अव्यय और शाश्वतधर्म तथा ऐकान्तिक सुख, यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये इनका मैं परम आश्रय हूं ॥२७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥

उसके उपरान्त, श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले

कि, हे अर्जुन! आदिपुरुष, परमेश्वररूप मूलवाले* और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले † जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी ‡ कहते हैं तथा जिसके

---

* आदिपुरुष नारायण वासुदेव भगवान् ही, नित्य और अनन्त तथा सबके आधार होनेके कारण और सबसे ऊपर नित्यधाममें सगुणरूपसे वास करनेके कारण, ऊर्ध्वनामसे कहे गये हैं और वे मायापति, सर्वशक्तिमान्, परमेश्वर ही, इस संसार-रूप वृक्षके कारण हैं इसलिये इस संसारवृक्षको "ऊर्ध्वमूलवाला" कहते हैं।

† उस आदिपुरुष परमेश्वरसे उत्पत्तिवाला होनेके कारण तथा नित्यधामसे नीचे ब्रह्मलोकमें वास करनेके कारण, हिरण्यगर्भरूप ब्रह्माको परमेश्वरकी अपेक्षा अधः कहा है और वही इस संसारका विस्तार करनेवाला होनेसे इसकी मुख्य शाखा है, इसलिये इस संसारवृक्षको "अधःशाखावाला" कहते हैं।

‡ इस वृक्षका मूलकारण परमात्मा, अविनाशी है

वेद पत्ते* कहे गये हैं, उस संसाररूप वृक्षको, जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है † ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

तथा अनादिकालसे इसकी परम्परा चली आती है, इसलिये इस संसारवृक्षको "अविनाशी" कहते हैं।

* इस वृक्षकी शाखारूप ब्रह्मासे प्रकट होनेवाले और यज्ञादिक कर्मोंके द्वारा, इस संसारवृक्षकी रक्षा और वृद्धिके करनेवाले एवं शोभाको बढ़ानेवाले होनेसे वेद "पत्ते" कहे गये हैं।

† भगवान्‌की योगमायासे उत्पन्न हुआ संसार क्षणभङ्गुर, नाशवान् और दुःखरूप है, इसके चिन्तनको त्यागकर, केवल परमेश्वरका ही नित्य, निरन्तर, अनन्यप्रेमसे चिन्तन करना 'वेदके तात्पर्यको जानना' है

और हे अर्जुन ! उस संसारवृक्षकी तीनों गुणरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषय*भोगरूप कोंपलोंवाली, देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएं † नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्ययोनिमें ‡ कर्मोंके अनुसार बांधनेवाली अहंता,

---

* शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह पांचों, स्थूलदेह और इन्द्रियोंकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण उन शाखाओंकी "कोंपलोंके" रूपमें कहे गये हैं।

† मुख्य शाखारूप ब्रह्मासे संपूर्ण लोकोंके सहित देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियोंकी उत्पत्ति और विस्तार हुआ है, इसलिये उनका यहां "शाखाओंके" रूपमें वर्णन किया है।

‡ अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंको, केवल मनुष्ययोनिमें कर्मोंके अनुसार बांधनेवाली कहनेका कारण यह है कि अन्य सब योनियोंमें तो, केवल पूर्वकृत कर्मोंके फलको भोगनेका ही अधिकार है और मनुष्ययोनिमें नवीन कर्मोंके करनेका भी अधिकार है।

ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं ॥२॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

परन्तु, इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहां विचारकालमें नहीं पाया जाता है*क्योंकि न तो इसका आदि है † और न अन्त है ‡ तथा न

---

*इस संसारका जैसा स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है और जैसा देखा सुना जाता है, वैसा तत्त्वज्ञान होनेके उपरान्त नहीं पाया जाता, जिस प्रकार आंख खुलनेके उपरान्त, स्वप्नका संसार नहीं पाया जाता।

† इसका आदि नहीं है, यह कहनेका प्रयोजन यह है कि इसकी परम्परा कबसे चली आती है इसका कोई पता नहीं है।

‡ इसका अन्त नहीं है, यह कहनेका प्रयोजन यह

अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है*, इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अतिदृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप†शस्त्रद्वारा काटकर‡

है कि इसकी परम्परा कबतक चलती रहेगी, इसका कोई पता नहीं है।

* इसकी अच्छी प्रकार स्थिति भी नहीं है, यह कहनेका यह प्रयोजन है कि वास्तवमें यह क्षणभंगुर और नाशवान् है।

† ब्रह्मलोकतकके भोग क्षणिक और नाशवान् हैं, ऐसा समझकर, इस संसारके समस्त विषय-भोगोंमें सत्ता, सुख, प्रीति और रमणीयताका न भासना ही "दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्र" है।

‡ स्थावर,जङ्गमरूप यावन्मात्र संसारके चिन्तन-का तथा अनादिकालसे, अज्ञानके द्वारा दृढ़ हुई अहंता,ममता और वासनारूप मूलोंका त्याग करना ही संसारवृक्षका अवान्तर"मूलोंकेसहितकाटना"है।

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

उसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको, अच्छी प्रकार खोजना चाहिये कि जिसमें गये हुए पुरुष फिर पीछे संसारमें नहीं आते हैं और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तार-को प्राप्त हुई है, उस ही आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूं, इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके ॥४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिनने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा

अच्छी प्रकारसे नष्टहो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ॥५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

और उस स्वयम् प्रकाशमय परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है तथा जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य पीछे संसारमें नहीं आते हैं, वही मेरा परमधाम है* ॥६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥७॥

और हे अर्जुन ! इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है† और वही इन त्रिगुणमयी मायामें

---

* "परमधाम" का अर्थ गीता अध्याय ८ श्लोक २१ में देखना चाहिये ।

† जैसे विभागरहित स्थित हुआ भी महाकाश,

स्थित हुई, मनसहित पांचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥

कैसे कि, वायु गन्धके स्थानसे गन्धको, जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिकोंका स्वामी, जीवात्मा भी जिस पहिले शरीरको त्यागता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके, फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है ॥८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥९॥

और उस शरीरमें स्थित हुआ, यह जीवात्मा

घटोंमें पृथक् पृथक्की भांति प्रतीत होता है, वैसे ही सब भूतोंमें एकीरूपसे स्थित हुआ भी परमात्मा पृथक् पृथक्की भांति प्रतीत होता है, इसीसे देहमें स्थित जीवात्माको भगवान्ने अपना "सनातन अंश" कहा है ।

श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंको सेवन करता है ॥९॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥

परन्तु, शरीर छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी, अज्ञानीजन नहीं जानते हैं, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

क्योंकि, योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए, इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं और जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते हुए भी इस आत्माको नहीं जानते हैं ॥११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

और हे अर्जुन ! जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ संपूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें स्थित है और जो तेज अग्निमें स्थित है, उसको तूं मेरा ही तेज जान ॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः

और मैं ही पृथिवीमें प्रवेश करके, अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूं और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर, संपूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूं ॥१३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

तथा मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित हुआ, वैश्वानर अग्निरूप होकर प्राण और अपानसे युक्त

हुआ, चार*प्रकारके अन्नको पचाता हूं ॥१४॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

और मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूं तथा मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन† होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य‡

---

*भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य, ऐसे चार प्रकारके अन्न होते हैं, उनमें जो चबाकर खाया जाता है वह भक्ष्य है जैसे रोटी आदि और जो निगला जाता है वह भोज्य है जैसे दूध आदि तथा जो चाटा जाता है वह लेह्य है जैसे चटनी आदि और जो चूसा जाता है वह चोष्य है जैसे ऊख आदि ।

† विचारके द्वारा, बुद्धिमें रहनेवाले संशय, विपर्यय आदि दोषोंको हटानेका नाम "अपोहन" है।

‡ सर्व वेदोंका तात्पर्य परमेश्वरको जनानेका है

हूं तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंका जाननेवाला भी मैं ही हूं ॥१५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

तथा हे अर्जुन ! इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी यह दो प्रकारके*पुरुष हैं, उनमें संपूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ॥१६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

इसलिये सब वेदोंद्वारा "जाननेके योग्य" एक परमेश्वर ही है ।

* गीता अध्याय ७ श्लोक ४-५ में जो अपरा और परा प्रकृतिके नामसे कहे गये हैं तथा अ० १३ श्लोक १ में, जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके नामसे कहे गये हैं, उन्हीं दोनोंको यहां क्षर और अक्षरके नामसे वर्णन किया है ।

तथा उन दोनोंसे, उत्तम पुरुष तो अन्य ही है कि जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके, सबका धारण, पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा, ऐसे कहा गया है ॥१७॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥

क्योंकि मैं नाशवान्, जड़वर्ग क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूं और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूं इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूं ॥१८॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मेरेको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।१९।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥

हे निष्पाप अर्जुन ! ऐसे यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है अर्थात् उसको और कुछ भी करना शेष नहीं रहता ।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

इस अध्यायमें भगवान्ने अपना परम गोपनीय प्रभाव भली प्रकारसे कहा है । जो मनुष्य उक्त प्रकारसे भगवान्को सर्वोत्तम समझ लेता है, फिर उसका मन एक क्षण भी भगवान्के चिन्तनका त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि जिस वस्तुको मनुष्य उत्तम समझता है, उसीमें उसका प्रेम होता है और जिसमें प्रेम होता है, उसीका चिन्तन होता है, अतएव सबका मुख्य कर्तव्य है कि भगवान्के परमगोपनीय प्रभावको भली प्रकार समझनेके लिये नाशवान्, क्षणभंगुर संसारकी आसक्तिका सर्वथा त्याग करके

एवं परमात्माके शरण होकर भजन और सत्सङ्गकी ही विशेष चेष्टा करें।

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।१।

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले, हे अर्जुन ! दैवी संपदा जिन पुरुषोंको प्राप्त है तथा जिनको आसुरी संपदा प्राप्त है, उनके लक्षण पृथक् पृथक् कहता हूं, उनमेंसे, सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ स्थिति* और

* परमात्माके स्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे ध्यानकी निरन्तर गाढ़ स्थितिका ही नाम "ज्ञानयोगव्यवस्थिति" समझना चाहिये।

सात्त्विक दान* तथा इन्द्रियोंका दमन, भगवत्-पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद शास्त्रोंके पठनपाठनपूर्वक, भगवत्के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना एवं शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ॥१॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।२।

तथा मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना तथा यथार्थ और प्रिय भाषण†,अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग एवं अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलता-

---

*गी०अ०१७श्लो०२०में जिसका विस्तार किया है

†अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा, जैसा निश्चय किया हो, वैसेका वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहनेका नाम "सत्यभाषण" है ।

का अभाव और किसीकी भी निन्दादि न करना तथा सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना और कोमलता तथा लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव।२।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

तथा तेज*, क्षमा, धैर्य और बाहर भीतरकी शुद्धि† एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव, यह सब तो हे अर्जुन! दैवी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।

---

* श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम "तेज" है कि जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर, उनके कथनानुसार श्रेष्ठकर्मोंमें प्रवृत्त होजाते हैं।

† गीता अ० १३ श्लो० ७ की टिप्पणी देखनी चाहिये।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ।४।

और हे पार्थ ! पाखण्ड, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञान भी यह सब आसुरी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं ॥४॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥

उन दोनों प्रकारकी संपदाओंमें, दैवी संपदा तो मुक्तिके लिये और आसुरी संपदा बांधनेके लिये मानी गयी है, इसलिये हे अर्जुन ! तूं शोक मत कर, क्योंकि तूं दैवी संपदाको प्राप्त हुआ है ॥५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।६।

और हे अर्जुन ! इस लोकमें भूतोंके स्वभाव दो प्रकारके माने गये हैं, एक तो देवोंके जैसा और दूसरा असुरोंके जैसा, उनमें देवोंका स्वभाव ही विस्तारपूर्वक कहा गया है, इसलिये अब असुरोंके स्वभावको भी विस्तारपूर्वक मेरेसे सुन ॥६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।७।

हे अर्जुन ! आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य-कार्यमें प्रवृत्त होनेको और अकर्तव्यकार्यसे निवृत्त होनेको भी नहीं जानते हैं, इसलिये उनमें न तो बाहर, भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ॥७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥

तथा वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्रयरहित और सर्वथा झूठा एवं बिना ईश्वरके अपने आप स्त्री पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है इसलिये केवल भोगोंको भोगनेके लिये ही है इसके सिवाय और क्या है ॥८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।९।

इस प्रकार इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके नष्ट

हो गया है स्वभाव जिनका तथा मन्द है बुद्धि जिनकी, ऐसे वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्का नाश करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥

और वे मनुष्य, दम्भ, मान और मदसे युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होनेवाली कामनाओंका आसरा लेकर तथा अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणोंसे युक्त हुए संसारमें बर्तते हैं ॥१०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥

तथा वे, मरणपर्यन्त रहनेवाली अनन्त चिन्ताओंको आश्रय किये हुए और विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर हुए एवं इतनामात्र ही आनन्द है, ऐसे माननेवाले हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥

इसलिये, आशारूप सैकड़ों फांसियोंसे बंधे

हुए और काम क्रोधके परायण हुए विषयभोगोंकी पूर्तिके लिये अन्यायपूर्वक धनादिक बहुतसे पदार्थों-को संग्रह करनेकी चेष्टा करते हैं ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।१३।

और उन पुरुषोंके विचार इस प्रकारके होते हैं कि, मैंने आज यह तो पाया है और इस मनोरथको प्राप्त होऊंगा तथा मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह होवेगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥

तथा वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओंको भी मैं मारूंगा तथा मैं ईश्वर और ऐश्वर्य-को भोगनेवाला हूं और मैं सब सिद्धियोंसे युक्त एवं बलवान् और सुखी हूं ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥

तथा मैं बड़ा धनवान् और बड़े कुटुम्बवाला हूं, मेरे समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूंगा, दान देऊंगा, हर्षको प्राप्त होऊंगा, इस प्रकारके अज्ञानसे मोहित हैं

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥

इसलिये वे, अनेक प्रकारसे भ्रमित हुए चित्त-वाले अज्ञानीजन मोहरूप जालमें फंसे हुए एवं विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हुए महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ।१७।

तथा वे अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त हुए, शास्त्रविधिसे रहित केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे यजन करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।१८।

तथा वे, अहङ्कार, वल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण हुए एवं दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।१९।

ऐसे, उन द्वेष करनेवाले, पापाचारी और क्रूरकर्मी, नराधमोंको मैं संसारमें बारम्बार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूं अर्थात् शूकर कूकर आदि नीच योनियोंमें ही उत्पन्न करता हूं ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

इसलिये, हे अर्जुन ! वे मूढ पुरुष जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए मेरेको न प्राप्त होकर, उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं, अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

और हे अर्जुन ! काम, क्रोध तथा लोभ यह तीन प्रकारके नरकके द्वार*आत्माका नाश करनेवाले हैं अर्थात् अधोगतिमें ले जानेवाले हैं इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

क्योंकि, हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ अर्थात् काम, क्रोध और लोभ आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है † इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मेरेको प्राप्त होता है ॥२२॥

---

* सर्व अनर्थोंके मूल और नरककी प्राप्तिमें हेतु होनेसे यहां काम, क्रोध और लोभको "नरकका द्वार" कहा है।

† अपने उद्धारके लिये भगवत्-आज्ञानुसार बर्तना ही "अपने कल्याणका आचरण करना" है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

और जो पुरुष शास्त्रकी विधिको त्यागकर अपनी इच्छासे बर्तता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है और न परमगतिको तथा न सुखको ही प्राप्त होता है

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि२४

इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्था-में शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मको ही करनेके लिये योग्य है।२४।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्-विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंको सुनकर, अर्जुन बोला, हे कृष्ण ! जो मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर, केवल श्रद्धासे युक्त हुए देवादिकोंका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौनसी है ? क्या सात्त्विकी है ? अथवा राजसी किंवा तामसी है ? ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर, श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! मनुष्योंकी वह बिना शास्त्रीय संस्कारोंके, केवल स्वभावसे उत्पन्न हुई श्रद्धा*, सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है, उसको तूं मेरेसे सुन ॥२॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

*अनन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके सञ्चित संस्कारोंसे उत्पन्न हुई श्रद्धा "स्वभावजा श्रद्धा" कही जाती है।

हे भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा, उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयम् भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥

उनमें सात्त्विक पुरुष तो देवोंको पूजते हैं और राजस पुरुष, यक्ष और राक्षसोंको पूजते हैं तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥

और हे अर्जुन ! जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित, केवल मनोकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहंकारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं ॥५॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।

मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

तथा जो, शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको अर्थात् शरीर, मन और इन्द्रियादिकोंके रूपमें परिणत हुए आकाशादि पांच भूतोंको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तर्यामीको भी कृश करनेवाले हैं*, उन अज्ञानियोंको तूं आसुरी स्वभाववाले जान ॥६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

और हे अर्जुन ! जैसे श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है, वैसे ही, भोजन भी सबको अपनी अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन तीन प्रकारके होते हैं, उनके इस न्यारे न्यारे भेदको तूं मेरेसे सुन॥७॥

---

* शास्त्रसे विरुद्ध उपवासादि घोर आचरणोंद्वारा शरीरको सुखाना एवं भगवान्के अंशस्वरूप जीवात्माको क्लेश देना, भूतसमुदायको और अन्तर्यामी परमात्माको "कृश करना" है।

आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या
आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले एवं रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले* तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय, ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ तो, सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥९॥

और कड़ुवे, खट्टे, लवणयुक्त और अति गरम तथा तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक एवं दुःख,चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ, राजस पुरुषको प्रिय होते हैं।

---

* जिस भोजनका सार शरीरमें बहुत कालतक रहता है, उसको "स्थिर रहनेवाला" कहते हैं।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

तथा जो भोजन अधपका, रसरहित और दुर्गन्धयुक्त एवं बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥

और हे अर्जुन ! जो यज्ञ, शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ है तथा करना ही कर्तव्य है ऐसे मनको समाधान करके फलको न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह यज्ञ तो सात्त्विक है ॥११॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

और हे अर्जुन ! जो यज्ञ, केवल दम्भाचरणके ही लिये अथवा फलको भी उद्देश्य रखकर किया जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान ॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

तथा शास्त्रविधिसे हीन और अन्नदानसे रहित एवं बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये हुए यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं॥१३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

तथा हे अर्जुन! देवता,ब्राह्मण,गुरु*और ज्ञानीजनोंका पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा,यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है।१४।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

तथा जो उद्वेगको न करनेवाला,प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है† और जो वेद शास्त्रोंके

---

* यहां गुरु शब्दसे माता, पिता, आचार्य और वृद्ध एवं अपनेसे जो किसी प्रकार भी बड़े हों उन सबको समझना चाहिये ।

† मन और इन्द्रियोंद्वारा जैसा अनुभव किया

पढ़नेका एवं परमेश्वरके नाम जपनेका अभ्यास है, वह निःसन्देह वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

तथा मनकी प्रसन्नता और शान्तभाव एवं भगवत्-चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणकी पवित्रता, ऐसे यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥१६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥

परन्तु हे अर्जुन! फलको न चाहनेवाले निष्कामी योगी पुरुषोंद्वारा परमश्रद्धासे किये हुए, उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको तो सात्त्विक कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

और जो तप सत्कार,मान और पूजाके लिये अथवा

हो,ठीक वैसा ही कहनेका नाम "यथार्थ भाषण" है।

केवल पाखण्डसे ही किया जाता है, वह अनिश्चित* और क्षणिक फलवाला तप, यहां राजस कहा गया है

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।१९।

और जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

और हे अर्जुन ! दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भावसे जो दान देश†, काल‡ और पात्रके§ प्राप्त

---

*"अनिश्चित फलवाला" उसको कहते हैं कि जिसका फल होने न होनेमें शङ्का हो ।

†-‡ जिस देशकालमें जिस वस्तुका अभाव हो, वही देशकाल, उस वस्तुद्वारा प्राणियोंकी सेवा करनेके लिये योग्य समझा जाता है ।

§ भूखे, अनाथ, दुःखी, रोगी और असमर्थ तथा

होनेपर, प्रत्युपकार न करनेवालोंके लिये दिया जाता है, वह दान तो सात्त्विक कहा गया है ॥२०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

और जो दान क्लेशपूर्वक* तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे अर्थात् बदलेमें अपना सांसारिक कार्य सिद्ध करनेकी आशासे अथवा फलको उद्देश्य रखकर† फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है

भिक्षुक आदि तो अन्न, वस्त्र और ओषधि एवं जिस वस्तुका जिसके पास अभाव हो, उस वस्तुद्वारा सेवा करनेके लिये योग्य पात्र समझे जाते हैं और श्रेष्ठ आचरणोंवाले विद्वान् ब्राह्मणजन धनादि सब प्रकारके पदार्थोंद्वारा सेवा करनेके लिये योग्य पात्र समझे जाते हैं ।

* जैसे प्रायः वर्तमान समयके चन्दे चिट्ठे आदिमें धन दिया जाता है ।

† अर्थात् मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादिकी

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

और जो दान बिना सत्कार किये, अथवा तिरस्कारपूर्वक, अयोग्य देशकालमें, कुपात्रोंके लिये अर्थात् मद्य मांसादि अभक्ष्य वस्तुओंके खानेवालों एवं चोरी जारी आदि नीच कर्म करनेवालोंके लिये दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥२२॥

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥

और हे अर्जुन ! ॐ, तत्, सत् ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें, ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिक रचे गये हैं ॥२३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥

इसलिये वेदको कथन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी

प्राप्तिके लिये अथवा रोगादिकी निवृत्तिके लिये ।

शास्त्रविधिसे नियत की हुई, यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएं, सदा ॐ, ऐसे इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ॥२४॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः

और तत् अर्थात् तत् नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है, ऐसे इस भावसे फलको न चाहकर, नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएं तथा दानरूप क्रियाएं कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं ॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥

और सत् ऐसे यह परमात्माका नाम, सत्य भावमें और श्रेष्ठ भावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी सत् शब्द प्रयोग किया जाता है ।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी सत् है, ऐसे कही जाती है और उस परमात्माके अर्थ किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत् है, ऐसे कहा जाता है

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥

और हे अर्जुन ! बिना श्रद्धाके होमा हुआ हवन तथा दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह समस्त असत् ऐसे कहा जाता है, इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके पीछे ही लाभदायक है, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि सच्चिदानन्दघन परमात्माके नामका निरन्तर चिन्तन करता हुआ निष्कामभावसे, केवल परमेश्वरके लिये शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मोंका परमश्रद्धा और उत्साहके सहित आचरण करे ॥२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभाग-योगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

उसके उपरान्त अर्जुन बोला, हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे वासुदेव ! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक् पृथक् जानना चाहता हूं ॥१॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।२।

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर, श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! कितने ही पण्डितजन तो काम्य कर्मोंके*त्यागको, संन्यास जानते हैं और कितने

---

* स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये तथा रोग सङ्कटादिकी निवृत्तिके लिये

ही विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्याग-कोॱ* त्याग कहते हैं ॥२॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

तथा कई एक विद्वान् ऐसे कहते हैं कि कर्म सभी दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं और दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं ॥३॥

जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते हैं, उनका नाम "काम्यकर्म" है ।

* ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीरसम्बन्धी खानपान इत्यादि जितने कर्तव्य कर्म हैं, उन सबमें इस लोक और परलोककी संपूर्ण कामनाओंके त्यागका नाम "सब कर्मोंके फलका त्याग" है ।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः

परन्तु हे अर्जुन ! उस त्यागके विषयमें तूं मेरे निश्चय-को सुन, हे पुरुषश्रेष्ठ! वह त्याग सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे तीनों प्रकारका ही कहा गया है।४।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥

तथा यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेके योग्य नहीं है, किन्तु वह निःसन्देह करना कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप यह तीनों ही बुद्धि-मान् पुरुषोंको*पवित्र करनेवाले हैं ॥५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥

इसलिये हे पार्थ ! यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी संपूर्ण श्रेष्ठ कर्म, आसक्तिको

*वह मनुष्य "बुद्धिमान्" है जो कि फल और आसक्तिको त्यागकर,केवल भगवत्-अर्थ कर्म करता है

और फलोंको त्यागकर, अवश्य करने चाहिये, ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥६॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥

और हे अर्जुन! नियत कर्मका*त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिये मोहसे उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है ॥७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥

और यदि कोई मनुष्य, जो कुछ कर्म है, वह सब ही दुःखरूप है, ऐसे समझकर, शारीरिक क्लेशके भयसे कर्मोंका त्याग कर दे, तो वह पुरुष उस राजस त्यागको करके भी त्यागके फलको प्राप्त नहीं होता है, अर्थात् उसका वह त्याग करना व्यर्थ ही होता है ।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

---

*इसी अ० के श्लो० ४८ की टिप्पणीमें इसका अर्थ देखना चाहिये ।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः

और हे अर्जुन ! करना कर्तव्य है ऐसे समझकर ही, जो शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्तिको और फलको त्यागकर किया जाता है, वह ही सात्त्विक त्याग माना गया है, अर्थात् कर्तव्य कर्मोंको स्वरूपसे न त्यागकर उनमें जो आसक्ति और फलका त्यागना है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

और हे अर्जुन ! जो पुरुष अकल्याणकारक कर्मसे तो द्वेष नहीं करता है और कल्याणकारक कर्ममें आसक्त नहीं होता है, वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त हुआ पुरुष, संशयरहित, ज्ञानवान् और त्यागी है।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

क्योंकि देहधारी पुरुषके द्वारा संपूर्णतासे सब कर्म त्यागे जानेको शक्य नहीं हैं, इससे जो पुरुष

कर्मोंके फलका त्यागी है, वह ही त्यागी है, ऐसे कहा जाता है ॥११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्

तथा सकामी पुरुषोंके कर्मका ही अच्छा, बुरा और मिला हुआ ऐसे तीन प्रकारका फल, मरनेके पश्चात् भी होता है और त्यागी*पुरुषोंके कर्मोंका फल, किसी कालमें भी नहीं होता, क्योंकि उनके द्वारा होनेवाले कर्म वास्तवमें कर्म नहीं हैं ॥१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥

और हे महाबाहो ! संपूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके सिद्ध होनेमें यह पांच हेतु

---

*संपूर्ण कर्तव्य कर्मोंमें फल, आसक्ति और कर्तापनके अभिमानको जिसने त्याग दिया है, उसीका नाम "त्यागी" है ।

सांख्य सिद्धान्तमें कहे गये हैं, उनको तूं मेरेसे भली प्रकार जान ॥१३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

हे अर्जुन ! इस विषयमें आधार*और कर्ता तथा न्यारे न्यारे करण† और नाना प्रकारकी न्यारी न्यारी चेष्टा एवं वैसे ही पांचवां हेतु "दैव"‡ कहा गया है ॥१४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥

क्योंकि मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रके अनुसार अथवा विपरीत भी जो कुछ कर्म आरम्भ

*जिसके आश्रय कर्म किये जायं, उसका नाम "आधार" है ।

†जिन जिन इन्द्रियादिकोंके और साधनोंके द्वारा कर्म किये जाते हैं, उनका नाम "करण" है ।

‡पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंका नाम 'दैव' है

करता है, उसके यह पांचों ही कारण हैं ॥१५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥

परन्तु ऐसा होनेपर भी जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि* होनेके कारण, उस विषयमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता देखता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं देखता है ॥१६॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥

और हे अर्जुन ! जिस पुरुषके अन्तःकरणमें मैं कर्ता हूं, ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और संपूर्ण कर्मोंमें लिपायमान

---

* सत्सङ्ग और शास्त्रके अभ्याससे तथा भगवत्-अर्थ कर्म और उपासनाके करनेसे, मनुष्यकी बुद्धि शुद्ध होती है, इसलिये जो उपरोक्त साधनोंसे रहित है, उसकी बुद्धि अशुद्ध है, ऐसा समझना चाहिये ।

नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बंधता है* ।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

* जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी हिंसा होती देखनेमें आवे तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है, वैसे ही जिस पुरुषका देहमें अभिमान नहीं है और स्वार्थरहित केवल संसारके हितके लिये ही जिसकी संपूर्ण क्रियाएं होती हैं, उस पुरुषके शरीर और इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है, क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो ही नहीं सकती तथा बिना कर्तृत्व अभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है, इसलिये वह पुरुष पापसे नहीं बंधता है ।

तथा हे भारत ! ज्ञाता*, ज्ञान† और ज्ञेय‡ यह तीनों तो कर्मके प्रेरक हैं अर्थात् इन तीनोंके संयोगसे तो कर्ममें प्रवृत्त होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और कर्ता§ करण× और क्रिया+ यह तीनों कर्मके संग्रह हैं अर्थात् इन तीनोंके संयोगसे कर्म बनता है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥

उन सबमें, ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणोंके भेदसे सांख्यशास्त्रमें तीन तीन प्रकारसे कहे गये हैं, उनको भी तूं मेरेसे भली प्रकार सुन ॥१९॥

---

* जाननेवालेका नाम "ज्ञाता" है।

† जिसके द्वारा जाना जाय, उसका नाम 'ज्ञान' है

‡ जाननेमें आनेवाली वस्तुका नाम "ज्ञेय" है।

§ कर्म करनेवालेका नाम "कर्ता" है।

× जिन साधनोंसे कर्म किया जाय, उनका नाम "करण" है।

+ करनेका नाम "क्रिया" है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्

हे अर्जुन ! जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक् पृथक् सब भूतोंमें, एक अविनाशी परमात्मभावको विभाग-रहित, समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तूं सात्त्विक जान ॥२०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

और जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा, मनुष्य संपूर्ण भूतोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके अनेक भावोंको न्यारा न्यारा करके जानता है, उस ज्ञानको तूं राजस जान ॥२१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

और जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही संपूर्णता-के सदृश आसक्त है, अर्थात् जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक क्षणभंगुर, नाशवान् शरीरको ही

आत्मा मानकर, उसमें सर्वस्वकी भांति आसक्त रहता है तथा जो बिना युक्तिवाला, तत्त्व अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा गया है॥२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥२३॥

तथा हे अर्जुन ! जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित, फलको न चाहनेवाले पुरुषद्वारा, बिना रागद्वेषसे किया हुआ है, वह कर्म तो सात्त्विक कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

और जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त है तथा फलको चाहनेवाले और अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है।२४।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

तथा जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ

किया जाता है, वह कर्म तामस कहा जाता है ।२५।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते

तथा हे अर्जुन ! जो कर्ता, आसक्तिसे रहित और अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त एवं कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष, शोकादि विकारोंसे रहित है वह कर्ता तो सात्त्विक कहा जाता है ॥२६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥

और जो आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष शोकसे लिपायमान है, वह कर्ता राजस कहा गया है ।२७।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।२८।

तथा जो विक्षेपयुक्त चित्तवाला, शिक्षासे रहित, घमण्डी, धूर्त और दूसरेकी आजीविकाका नाशक

एवं शोक करनेके स्वभाववाला, आलसी और दीर्घ-सूत्री* है, वह कर्ता तामस कहा जाता है ॥२८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

तथा हे अर्जुन ! तूं बुद्धिका और धारणशक्ति-का भी गुणोंके कारण तीन प्रकारका भेद संपूर्णता-से, विभागपूर्वक मेरेसे कहा हुआ सुन ॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी

हे पार्थ ! प्रवृत्तिमार्ग † और निवृत्तिमार्गको ‡

---

* "दीर्घसूत्री" उसको कहा जाता है कि जो थोड़े कालमें होने लायक साधारण कार्यको भी फिर कर लेंगे, ऐसी आशासे बहुत कालतक नहीं पूरा करता ।

† गृहस्थमें रहते हुए फल और आसक्तिको त्याग-कर भगवत्-अर्पण बुद्धिसे केवल लोकशिक्षाके लिये, राजा जनककी भांति बर्तनेका नाम "प्रवृत्तिमार्ग" है

‡ देहाभिमानको त्यागकर, केवल सच्चिदानन्द-

तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको एवं भय और अभय-को तथा बन्धन और मोक्षको जो बुद्धि तत्त्वसे जानती है, वह बुद्धि तो सात्त्विकी है ॥३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥

और हे पार्थ ! जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य, धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी यथार्थ नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसी है ॥३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥

और हे अर्जुन ! जो तमोगुणसे आवृत हुई बुद्धि, अधर्मको धर्म ऐसा मानती है, तथा और भी संपूर्ण अर्थोंको विपरीत ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।

घन परमात्मामें एकीभावसे स्थित हुए, श्रीशुकदेवजी और सनकादिकोंकी भांति, संसारसे उपराम होकर विचरनेका नाम "निवृत्तिमार्ग" है ।

योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी

और हे पार्थ ! ध्यानयोगके द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धारणासे* मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको† धारण करता है, वह धारणा तो सात्त्विकी है ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥

और हे पृथापुत्र अर्जुन! फलकी इच्छावाला मनुष्य अति आसक्तिसे जिस धारणाके द्वारा धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है, वह धारणा राजसी है ।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।

---

* भगवत्-विषयके सिवाय अन्य सांसारिक विषयोंको धारण करना ही व्यभिचार दोष है, उस दोषसे जो रहित है, वह 'अव्यभिचारिणी धारणा' है ।

† मन, प्राण और इन्द्रियोंको भगवत्-प्राप्तिके लिये भजन, ध्यान और निष्काम कर्मोंमें लगानेका नाम "उनकी क्रियाओंको धारण करना" है ।

न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥

तथा हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य, जिस धारणाके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको एवं उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता है अर्थात् धारण किये रहता है, वह धारणा तामसी है ॥३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥

हे अर्जुन ! अब सुख भी तू तीन प्रकारका मेरेसे सुन, हे भरतश्रेष्ठ ! जिस सुखमें साधक पुरुष भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है ॥३६॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥

वह सुख प्रथम साधनके आरम्भकालमें यद्यपि विषके सदृश भासता है* परन्तु परिणाममें अमृतके

* जैसे खेलमें आसक्तिवाले बालकको, विद्याका अभ्यास मूढ़ताके कारण, प्रथम विषके तुल्य भासता

तुल्य है, इसलिये जो भगवत्विषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न हुआ सुख है, वह सात्त्विक कहा गया है।३७।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।३८।

और जो सुख, विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है, परन्तु परिणाममें विषके सदृश* है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है ॥३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

तथा जो सुख, भोगकालमें और परिणाममें भी

है, वैसे ही विषयोंमें आसक्तिवाले पुरुषको भगवत्-भजन, ध्यान, सेवा आदि साधनोंका अभ्यास मर्म न जाननेके कारण प्रथम विषके सदृश भासता है।

* बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होनेसे विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाले सुखको 'परिणाममें विषके सदृश' कहा है।

आत्माको मोहनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

और हे अर्जुन! पृथिवीमें या स्वर्गमें अथवा देवताओंमें, ऐसा वह कोई भी प्राणी नहीं है, कि जो इन प्रकृतिसे उत्पन्न हुए, तीनों गुणोंसे रहित हो, क्योंकि यावन्मात्र सर्व जगत् त्रिगुणमयी मायाका ही विकार है॥४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥४१॥

इसलिये, हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों-के तथा शूद्रोंके भी कर्म, स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणों-करके विभक्त किये गये हैं, अर्थात् पूर्वकृत कर्मोंके संस्काररूप स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके अनुसार विभक्त किये गये हैं॥४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

उनमें अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर भीतरकी शुद्धि*, धर्मके लिये कष्ट सहन करना और क्षमाभाव एवं मन, इन्द्रियां और शरीरकी सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और परमात्मतत्त्वका अनुभव भी, ये तो ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

और शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें भी न भागनेका स्वभाव एवं दान और स्वामीभाव अर्थात् निःस्वार्थभावसे सबका हित सोचकर, शास्त्राज्ञानुसार शासनद्वारा, प्रेमके सहित पुत्रतुल्य प्रजाको पालन करनेका भाव ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ॥४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।

*गी॰अ॰ १३ श्लो॰ ७की टि॰में देखना चाहिये।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

तथा खेती, गौपालन और क्रयविक्रयरूप सत्य व्यवहार*, ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं और सब वर्णोंकी सेवा करना, यह शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥

एवं इस, अपने अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा

---

* वस्तुओंके खरीदने और बेचनेमें तौल, नाप और गिनती आदिसे कम देना अथवा अधिक लेना एवं वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) वस्तु मिलाकर दे देना अथवा (अच्छी) ले लेना तथा नफा, आढ़त और दलाली ठहराकर, उससे अधिक दाम लेना या कम देना तथा झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे दूसरेके हकको ग्रहण कर लेना इत्यादि दोषोंसे रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओंका व्यापार है उसका नाम "सत्य व्यवहार" है।

हुआ मनुष्य, भगवत्प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त होता है, परन्तु जिस प्रकारसे अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य, परमसिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तूं मेरेसे सुन ॥४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

हे अर्जुन ! जिस परमात्मासे सर्व भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है* उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूज-कर†, मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है ॥४६॥

---

*जैसे बर्फ जलसे व्याप्त है, वैसे ही संपूर्ण संसार सच्चिदानन्दघन परमात्मासे व्याप्त है ।

† जैसे पतिव्रता स्त्री, पतिको ही सर्वस्व समझकर पतिका चिन्तन करती हुई, पतिकी आज्ञानुसार, पतिके ही लिये, मन, वाणी, शरीरसे कर्म करती है, वैसे ही परमेश्वरको ही सर्वस्व समझकर, परमेश्वरका चिन्तन करते हुए, परमेश्वरकी आज्ञाके अनुसार मन,

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥

इसलिये, अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे, गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य, पापको नहीं प्राप्त होता ।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ४८

अतएव, हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त भी स्वाभाविक*

वाणी और शरीरसे परमेश्वरके ही लिये स्वाभाविक कर्तव्यकर्मका आचरण करना "कर्मद्वारा परमेश्वरको पूजना" है ।

* प्रकृतिके अनुसार शास्त्रविधिसे नियत किये हुए, जो वर्णाश्रमके धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म हैं, उनको ही यहां 'स्वधर्म' 'सहजकर्म' 'स्वकर्म' 'नियत कर्म' 'स्वभावज कर्म' 'स्वभावनियत कर्म' इत्यादि नामोंसे कहा है ।

कर्मको नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूएंसे अग्निके सदृश सब ही कर्म किसी न किसी दोषसे आवृत हैं।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥

तथा हे अर्जुन! सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष, सांख्ययोगके द्वारा भी परम नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् क्रियारहित शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त होता है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥

इसलिये, हे कुन्तीपुत्र! अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष, जैसे सांख्ययोगके द्वारा, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है तथा जो तत्त्वज्ञानकी परानिष्ठा है, उसको भी तूं मेरेसे संक्षेपसे जान ॥५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च

शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।५२।

हे अर्जुन ! विशुद्ध बुद्धिसे युक्त एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला तथा मिताहारी* जीते हुए मन, वाणी, शरीरवाला और दृढ़ वैराग्यको भली प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष, निरन्तर ध्यानयोगके परायण हुआ, सात्त्विक धारणासे†, अन्तः-करणको वशमें करके तथा शब्दादिक विषयोंको त्यागकर और रागद्वेषोंको नष्ट करके ॥५१,५२॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और संग्रहको त्यागकर, ममतारहित और शान्त अन्तः-करण हुआ, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभाव होनेके

* हलका और अल्प आहार करनेवाला।

† गी० अ० १८ श्लो० ३३ में जिसका विस्तार है।

लिये योग्य होता है ॥५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

फिर वह, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित हुआ, प्रसन्न चित्तवाला पुरुष, न तो किसी वस्तुके लिये शोक करता है और न किसीकी आकांक्षा ही करता है एवं सब भूतोंमें समभाव हुआ* मेरी पराभक्तिको† प्राप्त होता है ॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

और उस, पराभक्तिके द्वारा, मेरेको तत्त्वसे भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाव-

---

* गीता अ० ६ श्लोक २९ में देखना चाहिये।

† जो तत्त्वज्ञानकी पराकाष्ठा है तथा जिसको प्राप्त होकर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता, वही यहां 'पराभक्ति' 'ज्ञानकी परानिष्ठा' 'परम नैष्कर्म्य सिद्धि' और 'परमसिद्धि' इत्यादि नामोंसे कही गयी है।

वाला हूं तथा उस भक्तिसे मेरेको तत्त्वसे जानकर, तत्काल ही मेरेमें प्रवेश हो जाता है अर्थात् अनन्य-भावसे मेरेको प्राप्त हो जाता है, फिर उसकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवके सिवाय और कुछ भी नहीं रहता॥५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥

और मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो संपूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन, अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूं सब कर्मोंको मनसे मेरेमें अर्पण करके*, मेरे परायण हुआ, समत्व बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके, निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो ॥५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।

*गी०अ० ९ श्लोक २७में जिसकी विधि कही है।

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥

इस प्रकार तूं मेरेमें निरन्तर मनवाला हुआ, मेरी कृपासे जन्म, मृत्यु आदि सब सङ्कटोंको अनायास ही तर जायगा और यदि अहंकारके कारण, मेरे वचनोंको नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ॥५८॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥

और जो तूं अहंकारको अवलम्बन करके ऐसे मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है, क्योंकि क्षत्रियपनका स्वभाव तेरेको जबरदस्ती युद्धमें लगा देगा ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

और हे अर्जुन ! जिस कर्मको तूं मोहसे नहीं करना चाहता है, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बंधा हुआ, परवश होकर करेगा ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

क्योंकि, हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए संपूर्ण प्राणियोंको, अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत-प्राणियोंके हृदयमें स्थित है ॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्

इसलिये, हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वर-की ही अनन्यशरणको* प्राप्त हो, उस परमात्माकी

---

* लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्याग-कर एवं शरीर और संसारमें अहंता, ममतासे रहित होकर, केवल एक परमात्माको ही परमआश्रय, परमगति और सर्वस्व समझना तथा अनन्यभावसे अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक, निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन, स्मरण रखते हुए ही

कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त होगा ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है, इस रहस्ययुक्त ज्ञानको संपूर्णतासे अच्छी प्रकार विचारके, फिर तूं जैसे चाहता है, वैसे ही कर अर्थात् जैसी तेरी इच्छा हो, वैसे ही कर ॥६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

इतना कहनेपर भी अर्जुनका कोई उत्तर नहीं मिलनेके कारण, श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले, कि हे अर्जुन ! संपूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय, मेरे

उनकी आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मोंका, निःस्वार्थभावसे केवल परमेश्वरके लिये, आचरण करना, यह "सब प्रकारसे परमात्माके अनन्यशरण" होना है।

परम रहस्ययुक्त वचनको तूं फिर भी सुन क्योंकि तूं मेरा अतिशय प्रिय है इससे यह परमहित-कारक वचन, मैं तेरे लिये कहूंगा ॥६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

हे अर्जुन ! तूं केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही, अनन्यप्रेमसे नित्यनिरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही, अतिशय श्रद्धा, भक्तिसहित, निष्कामभावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा, निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणों-से युक्त, पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका)मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलता-पूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान् विभूति, वल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता,

वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्ति-सहित साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तूं मेरेको ही प्राप्त होगा, यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूं, क्योंकि तूं मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है।६५।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः

इसलिये, सर्व धर्मोंको अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्यशरणको* प्राप्त हो, मैं तेरेको संपूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूंगा, तूं शोक मत कर ॥६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार, तेरे हितके लिये कहे हुए

---

* इसी अध्यायके श्लोक ६२ की टिप्पणीमें, "अनन्यशरण" का भाव देखना चाहिये ।

इस गीतारूप परमरहस्यको, किसी कालमें भी न तो तपरहित मनुष्यके प्रति कहना चाहिये और न भक्ति*रहितके प्रति तथा न बिना सुननेकी इच्छा-वालेके ही प्रति कहना चाहिये एवं जो मेरी निन्दा करता है, उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिये, परन्तु जिनमें यह सब दोष नहीं हों, ऐसे भक्तोंके प्रति, प्रेमपूर्वक, उत्साहके सहित कहना चाहिये।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥

क्योंकि, जो पुरुष मेरेमें परम प्रेमकरके, इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा अर्थात् निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा या अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करेगा, वह निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा ॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।

---

* वेद, शास्त्र और परमेश्वर तथा महात्मा और गुरुजनोंमें श्रद्धा, प्रेम और पूज्यभावका नाम 'भक्ति' है

भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ६९

और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़-कर मेरा अत्यन्त प्यारा पृथिवीमें दूसरा कोई होवेगा

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥

तथा हे अर्जुन ! जो पुरुष, इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, अर्थात् नित्य पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे*पूजित होऊंगा, ऐसा मेरा मत है ॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्

तथा जो पुरुष श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित हुआ, इस गीताशास्त्रका श्रवणमात्र भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त हुआ, उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होवेगा ॥७१॥

---

*गी०अ०४श्लो०३३का अर्थ देखना चाहिये ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

इस प्रकार गीताका माहात्म्य कहकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने अर्जुनसे पूछा, हे पार्थ ! क्या यह मेरा वचन तैंने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ ? ॥७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥७३॥

इस प्रकार भगवान्के पूछनेपर अर्जुन बोला, हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिये मैं संशयरहित हुआ स्थित हूं और आपकी आज्ञा पालन करूंगा।७३।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

इसके उपरान्त संजय बोला, हे राजन् ! इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त और रोमाञ्चकारक संवादको सुना ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्

कैसे कि, श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्यदृष्टिद्वारा मैंने इस परम रहस्ययुक्त गोपनीय योगको साक्षात् कहते हुए स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान्से सुना है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।७६।

इसलिये, हे राजन् ! श्रीकृष्ण भगवान् और अर्जुनके, इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः पुनः स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित होता हूं ॥७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥

तथा हे राजन् ! श्रीहरिके*, उस अति अद्भुत रूपको भी पुनः पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूं ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।७८।

हे राजन् ! विशेष क्या कहूं, जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् हैं और जहां गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन है, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है, ऐसा मेरा मत है ॥७८॥

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

"श्रीमद्भगवद्गीता" यह एक परम रहस्यका विषय है । इसको परमकृपालु श्रीकृष्ण भगवान्ने

* जिसका स्मरण करनेसे पापोंका नाश होता है, उसका नाम "हरि" है ।

अर्जुनको निमित्त करके सभी प्राणियोंके हितके लिये कहा है। परन्तु इसके प्रभावको वे ही पुरुष जान सकते हैं, कि जो भगवान्के शरण होकर श्रद्धा, भक्तिसहित इसका अभ्यास करते हैं, इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको उचित है कि जितना शीघ्र हो सके, अज्ञाननिद्रासे चेतकर एवं अपना मुख्य कर्तव्य समझकर श्रद्धाभक्तिसहित सदा इसका श्रवण, मनन और पठन-पाठनद्वारा अभ्यास करते हुए भगवान्की आज्ञानुसार साधनमें लग जायं। क्योंकि जो मनुष्य श्रद्धाभक्तिसहित इसका मर्म जाननेके लिये इसके अन्तर प्रवेश करके सदा इसका मनन करते हैं, एवं भगवत् आज्ञानुसार साधन करनेमें तत्पर रहते हैं उनके अन्तःकरणमें प्रतिदिन नये नये सद्भाव उत्पन्न होते हैं और वे शुद्धान्तःकरण हुए शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

त्यागसे भगवत्-प्राप्ति

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी मनुष्य त्यागके द्वारा परमात्माको प्राप्त कर सकता है। परमात्माको प्राप्त करनेके लिये 'त्याग' ही मुख्य साधन है। अतएव सात श्रेणियोंमें विभक्त करके त्यागके लक्षण संक्षेपमें लिखे जाते हैं।

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग ।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबर-दस्ती, हिंसा, अभक्ष्यभोजन और प्रमाद आदि शास्त्र-विरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना। यह पहिली श्रेणीका त्याग है।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग ।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे एवं रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना* । यह दूसरी श्रेणीका त्याग है।

---

* यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाय जो कि स्वरूपसे तो सकाम हो परन्तु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुंचता हो या कर्म उपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोकसंग्रह-के लिये उसका कर लेना सकाम कर्म नहीं है

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग ।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्प्राप्तिमें बाधक समझकर उसका त्याग करना। यह तीसरी श्रेणीका त्याग है।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एवं बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना इत्यादि, जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव हैं उन सबका त्याग करना*। यह चौथी श्रेणीका त्याग है।

(५) संपूर्ण कर्तव्य कर्मोंमें आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग ।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरु-

---

* यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो

जनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीरसम्बन्धी खानपान इत्यादि जितने कर्तव्य कर्म हैं, उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना

(क) ईश्वर-भक्तिमें आलस्यका त्याग ।

अपने जीवनका परम कर्तव्य मानकर परम दयालु, सबके सुहृद्, परमप्रेमी, अन्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और प्रेमकी रहस्यमयी कथाका श्रवण, मनन

जाय कि शरीरसम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुंचता हो या लोकशिक्षामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसरपर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है । क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिसे की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदिद्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थ स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एवं लोकमर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है ।

और पठनपाठन करना तथा आलस्यरहित होकर उनके परम पुनीत नामका उत्साहपूर्वक ध्यान-सहित निरन्तर जप करना।

(ख) ईश्वर-भक्तिमें कामनाका त्याग।

इसलोक और परलोकके संपूर्ण भोगोंको क्षणभङ्गुर, नाशवान् और भगवान्की भक्तिमें बाधक समझकर किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये न तो भगवान्से प्रार्थना करना और न मनमें इच्छा ही रखना। तथा किसी प्रकारका सङ्कट आ जानेपर भी उसके निवारणके लिये भगवान्से प्रार्थना न करना अर्थात् हृदयमें ऐसा भाव रखना कि प्राण भले ही चले जायं परन्तु इस मिथ्या जीवनके लिये विशुद्ध भक्तिमें कलङ्क लगाना उचित नहीं। जैसे भक्त प्रह्लादने पिताद्वारा बहुत सताये जानेपर भी अपने कष्ट-निवारणके लिये भगवान्से प्रार्थना नहीं की। अपना अनिष्ट करनेवालोंको भी, "भगवान् तुम्हारा बुरा करें"

इत्यादि किसी प्रकारके कठोर शब्दोंसे सराप न देना और उनका अनिष्ट होनेकी मनमें इच्छा भी न रखना। भगवान्‌की भक्तिके अभिमानमें आकर किसीको वरदानादि भी न देना, जैसे कि "भगवान् तुम्हें आरोग्य करें" "भगवान् तुम्हारा दुःख दूर करें" "भगवान् तुम्हारी आयु बढ़ावें" इत्यादि।

पत्रव्यवहारमें भी सकाम शब्दोंका न लिखना अर्थात् जैसे "अठे उठे श्रीठाकुरजी सहाय छै" "ठाकुरजी बिक्री चलासी" "ठाकुरजी वर्षा करसी" "ठाकुरजी आराम करसी" इत्यादि सांसारिक वस्तुओंके लिये ठाकुरजीसे प्रार्थना करनेके रूपमें सकाम शब्द मारवाड़ी समाजमें प्रायः लिखे जाते हैं वैसे न लिखकर "श्रीपरमात्मादेव आनन्दरूपसे सर्वत्र विराजमान हैं" "श्रीपरमेश्वरका भजन सार है" इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना तथा इसके सिवाय अन्य किसी प्रकारसे भी लिखने,

बोलने आदिमें सकाम शब्दोंका प्रयोग न करना ।

(ग) देवताओंके पूजनमें आलस्य और कामनाका त्याग ।

शास्त्र-मर्यादासे अथवा लोक-मर्यादासे पूजनेके योग्य देवताओंको पूजनेका नियत समय आनेपर उनका पूजन करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है एवं भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना परमकर्तव्य है, ऐसा समझकर उत्साहपूर्वक विधिके सहित उनका पूजन करना एवं उनसे किसी प्रकारकी भी कामना न करना ।

उनके पूजनके उद्देश्यसे रोकड़ बहीखाते आदिमें भी सकाम शब्द न लिखना अर्थात् जैसे मारवाड़ी समाजमें नये बसनेके दिन अथवा दीपमालिकाके दिन श्रीलक्ष्मीजीका पूजन करके "श्रीलक्ष्मीजी लाभ मोकलो देसी" "भण्डार भरपूर राखसी" "ऋद्धि सिद्धि करसी" "श्रीकालीजीके आसरे" "श्रीगङ्गाजीके आसरे" इत्यादि बहुतसे सकाम

शब्द लिखे जाते हैं वैसे न लिखकर "श्रीलक्ष्मी-नारायणजी सब जगह आनन्दरूपसे विराजमान हैं" तथा "बहुत आनन्द और उत्साहके सहित श्रीलक्ष्मीजीका पूजन किया" इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना और नित्य रोकड़ नकल आदिके आरम्भ करनेमें भी उपर्युक्त रीतिसे ही लिखना।

(घ) मातापितादि गुरुजनोंकी सेवामें आलस्य और कामनाका त्याग।

माता, पिता, आचार्य एवं और भी जो पूजनीय पुरुष वर्ण, आश्रम, अवस्था और गुणोंमें किसी प्रकार भी अपनेसे बड़े हों उन सबकी सब प्रकारसे नित्य सेवा करना और उनको नित्य प्रणाम करना मनुष्यका परम कर्तव्य है इस भावको हृदयमें रखते हुए आलस्यका सर्वथा त्याग करके, निष्काम-भावसे उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार उनकी सेवा करनेमें तत्पर रहना।

(ङ) यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग ।

पञ्चमहायज्ञादि* नित्यकर्म एवं अन्यान्य नैमित्तिक कर्मरूप यज्ञादिका करना तथा अन्न, वस्त्र, विद्या, औषध और धनादि पदार्थोंके दानद्वारा संपूर्ण जीवोंको यथायोग्य सुख पहुंचानेके लिये मन, वाणी और शरीरसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना तथा अपने धर्मका पालन करनेके लिये हर प्रकारसे कष्ट सहन करना इत्यादि शास्त्रविहित कर्मोंमें इसलोक और परलोकके संपूर्ण भोगोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करके एवं अपना परम कर्तव्य मानकर श्रद्धासहित, उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार, केवल भगवदर्थ ही उनका आचरण करना ।

---

* पञ्चमहायज्ञ यह हैं—देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि), ऋषियज्ञ (वेदपाठ, सन्ध्या, गायत्रीजपादि), पितृयज्ञ (तर्पण श्राद्धादि), मनुष्ययज्ञ (अतिथिसेवा) और भूतयज्ञ (बलिवैश्व) ।

(च) आजीविकाद्वारा गृहस्थनिर्वाहके उपयुक्त कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

आजीविकाके कर्म जैसे वैश्यके लिये कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य आदि कहे हैं वैसे ही जो अपने अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार शास्त्रोंमें विधान किये गये हों उन सबके पालनद्वारा संसारका हित करते हुए ही गृहस्थका निर्वाह करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है। इसलिये अपना कर्तव्य मानकर लाभहानिको समान समझते हुए, सब प्रकारकी कामनाओंका त्याग करके उत्साहपूर्वक उपरोक्त कर्मोंका करना* ।

* उपरोक्त भावसे करनेवाले पुरुषके कर्म लोभसे रहित होनेके कारण उनमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं आ सकता, क्योंकि आजीविकाके कर्मोंमें लोभ ही विशेषरूपसे पाप करानेका हेतु है, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि गीता अध्याय १८ श्लोक ४४ की टिप्पणीमें जैसे वैश्यके प्रति वाणिज्यके दोषोंका त्याग करनेके लिये विस्तारपूर्वक लिखा है उसीप्रकार

(छ) शरीरसंबन्धी कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

शरीरनिर्वाहके लिये शास्त्रोक्त रीतिसे भोजन, वस्त्र और औषधादिके सेवनरूप जो शरीरसंबन्धी कर्म हैं उनमें सब प्रकारके भोगविलासोंकी कामनाका त्याग करके एवं सुख, दुःख, लाभ, हानि और जीवन, मरण आदिको समान समझकर केवल भगवत्-प्राप्तिके लिये ही योग्यताके अनुसार उनका आचरण करना।

पूर्वोक्त चार श्रेणियोंके त्यागसहित इस पांचवीं श्रेणीके त्यागानुसार संपूर्ण दोषोंका और सब प्रकार-की कामनाओंका नाश होकर केवल एक भगवत्-प्राप्तिकी ही तीव्र इच्छाका होना ज्ञानकी पहिली

अपने अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार संपूर्ण कर्मोंमें सब प्रकारके दोषोंका त्याग करके केवल भगवान्‌की आज्ञा समझकर भगवान्‌के लिये निष्कामभावसे ही संपूर्ण कर्मोंका आचरण करे।

भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये ।

(६) संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग ।

धन, भवन और वस्त्रादि संपूर्ण वस्तुएं तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि संपूर्ण वान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोकके और परलोकके जितने विषयभोगरूप पदार्थ हैं उन सबको क्षण-भङ्गुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली संपूर्ण क्रियाओंमें और शरीरमें भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना यह छठी श्रेणीका त्याग है * ।

*संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग तो तीसरी और पांचवीं श्रेणीके त्याग-

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान्‌में ही अनन्यप्रेम हो जाता है। इसलिये उनको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्‌का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रह-कर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषयभोग और

में कहा गया, परन्तु उपरोक्त त्यागके होनेपर भी उनमें ममता और आसक्ति शेष रह जाती है । जैसे भजन, ध्यान और सत्सङ्गके अभ्याससे भरतमुनिका संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छा-का त्याग होनेपर भी हरिणमें और हरिणके पालन-रूप कर्ममें ममता और आसक्ति बनी रही । इसलिये संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिके त्यागको छठी श्रेणीका त्याग कहा है ।

व्यर्थ वार्तादिमें अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता। एवं उसके द्वारा संपूर्ण कर्तव्य कर्म भगवान्‌के स्वरूप और नामका मनन रहते हुएही बिना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं।

इस प्रकार संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका त्याग होकर केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही विशुद्ध प्रेमका होना ज्ञानकी दूसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये।

(७) संसार, शरीर और संपूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग।

संसारके संपूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और संपूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना

अर्थात् अन्तःकरणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एवं शरीरमें अहंभावका सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका लेशमात्र भी न रहना। यह सातवीं श्रेणीका त्याग है *।

इस सातवीं श्रेणीके त्यागरूप परवैराग्यको † प्राप्त

---

*संपूर्ण संसारके पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका एवं ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर भी उनमें सूक्ष्म वासना और कर्तृत्व अभिमान शेष रह जाता है इसलिये सूक्ष्म वासना और अहंभावके त्यागको सातवीं श्रेणीका त्याग कहा है।

†पूर्वोक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है परन्तु इस सातवीं श्रेणीके त्यागी पुरुषका विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसके

हुए पुरुषोंके अन्तःकरणकी वृत्तियां संपूर्ण संसारसे अत्यन्त उपराम हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई सांसारिक फुरना हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते, क्योंकि उनकी एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्यभावसे गाढ़स्थिति निरन्तर बनी रहती है।

इसलिये उनके अन्तःकरणमें संपूर्ण अवगुणोंका अभावहोकर अहिंसा१, सत्य२, अस्तेय३, ब्रह्मचर्य४, अपैशुनता ५, लज्जा, अमानित्व६, निष्कपटता,

---

निश्चयमें एक परमात्माके सिवाय अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं इसलिये इस त्यागको परवैराग्य कहा है

१ मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना। २ अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो वैसेका वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना। ३ चोरीका सर्वथा अभाव। ४ आठ प्रकारके मैथुनोंका अभाव। ५ किसीकी भी निन्दा न करना, ६ सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना।

शौच१, सन्तोष२, तितिक्षा ३, सत्सङ्ग, सेवा, यज्ञ, दान, तप ४, स्वाध्याय ५, शम ६, दम ७, विनय,

१ बाहर और भीतरकी पवित्रता (सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी एवं यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको तो बाहरकी शुद्धि कहते हैं और रागद्वेष तथा कपटादि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ और शुद्ध हो जाना, भीतरकी शुद्धि कहलाती है) ।

२ तृष्णाका सर्वथा अभाव ।

३ शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंका सहन करना ।

४ स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहना ।

५ वेद और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन ।

६ मनका वशमें होना ।

७ इन्द्रियोंका वशमें होना ।

आर्जव१, दया२, श्रद्धा३, विवेक४, वैराग्य५, एकान्त-वास, अपरिग्रह६, समाधान७, उपरामता, तेज ८,

१ शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ।

२ दुःखियोंमें करुणा ।

३ वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षके सदृश विश्वास ।

४ सत् और असत् पदार्थका यथार्थ ज्ञान ।

५ ब्रह्मलोकतकके संपूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव ।

६ ममत्वबुद्धिसे संग्रहका अभाव ।

७ अन्तःकरणमें संशय और विक्षेपका अभाव ।

८ श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः पापाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं

क्षमा१, धैर्य २, अद्रोह३, अभय ४, निरहंकारता, शान्ति ५ और ईश्वरमें अनन्यभक्ति इत्यादि सद्गुणोंका आविर्भाव स्वभावसे ही हो जाता है इस प्रकार शरीरसहित संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

उपरोक्त गुणोंमेंसे कितने ही तो पहली और दूसरी

---

१ अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना।

२ भारी विपत्ति आनेपर भी अपनी स्थितिसे चलायमान न होना। ३ अपने साथ द्वेष रखनेवालों-में भी द्वेषका न होना। ४ सर्वथा भयका अभाव। ५ इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्तःकरणमें नित्यनिरन्तर प्रसन्नताका रहना।

भूमिकामें ही प्राप्त हो जाते हैं परन्तु संपूर्ण गुणोंका आविर्भाव तो प्रायः तीसरी भूमिकामें ही होता है। क्योंकि यह सब भगवत्-प्राप्तिके अति समीप पहुंचे हुए पुरुषोंके लक्षण एवं भगवत्-स्वरूपके साक्षात् ज्ञानमें हेतु हैं इसीलिये श्रीकृष्ण भगवान्ने प्रायः इन्हीं गुणोंको श्रीगीताजीके १३ वें अध्यायमें(श्लोक ७से११ तक) ज्ञानके नामसे तथा १६ वें अध्यायमें (श्लोक१से ३ तक) दैवी संपदाके नामसे कहा है।

तथा उक्त गुणोंको शास्त्रकारोंने सामान्य धर्म माना है। इसलिये मनुष्यमात्रका ही इनमें अधिकार है अतएव उपरोक्त सद्गुणोंका अपने अन्तःकरणमें आविर्भाव करनेके लिये सभीको भगवान्के शरण होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

उपसंहार

इस लेखमें सात श्रेणियोंके त्यागद्वारा भगवत्-प्राप्तिका होना कहा गया है। उनमें पहली ५ श्रेणियोंके त्यागतक तो ज्ञानकी प्रथम भूमिकाके लक्षण और छठी श्रेणीके त्यागतक दूसरी भूमिकाके

लक्षण तथा सातवीं श्रेणीके त्यागतक तीसरी भूमिकाके लक्षण बताये गये हैं। उक्त तीसरी भूमिकामें परिपक्क अवस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। फिर उसका इस क्षणभङ्गुर, नाशवान्, अनित्य संसारसे कुछ भी संबन्ध नहीं रहता, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषका स्वप्नके संसारसे कुछ भी संबन्ध नहीं रहता वैसे ही अज्ञान-निद्रासे जगे हुए पुरुषका भी मायाके कार्यरूप अनित्य संसारसे कुछ भी संबन्ध नहीं रहता। यद्यपि लोकदृष्टिमें उस ज्ञानी पुरुषके शरीर-द्वारा प्रारब्धसे संपूर्ण कर्म होते हुए दिखायी देते हैं एवं उन कर्मोंद्वारा संसारमें बहुत ही लाभ पहुंचता है। क्योंकि कामना, आसक्ति और कर्तृत्व अभिमानसे रहित होनेके कारण उस महात्माके मन, वाणी और शरीरद्वारा किये हुए आचरण लोकमें प्रमाणस्वरूप समझे जाते हैं और ऐसे पुरुषोंके भावसे ही शास्त्र

बनते हैं, परन्तु यह सब होते हुए भी वह सच्चिदानन्द-घन वासुदेवको प्राप्त हुआ पुरुष तो इस त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है। इसलिये वह न तो गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और निद्रा आदिके प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होने-पर उनकी आकाङ्क्षा ही करता है। क्योंकि सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान और निन्दा-स्तुति आदिमें एवं मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण आदिमें सर्वत्र उसका समभाव हो जाता है इसलिये उस महात्माको न तो किसी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियकी निवृत्तिमें हर्ष होता है, न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है। यदि उस धीर पुरुषका शरीर किसी कारणसे शस्त्रोंद्वारा काटा भी जाय या उसको कोई अन्य प्रकारका भारी दुःख आकर प्राप्त हो जाय तो भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवमें अनन्यभावसे स्थित हुआ पुरुष उस स्थितिसे चलाय-मान नहीं होता। क्योंकि उसके अन्तःकरणमें संपूर्ण

संसार मृगतृष्णाके जलकी भांति प्रतीत होता है और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीका भी होनापना नहीं भासता । विशेष क्या कहा जाय, वास्तवमें उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका भाव वह स्वयं ही जानता है। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा प्रगट करनेके लिये किसीका भी सामर्थ्य नहीं है।अतएव जितना शीघ्र हो सके अज्ञाननिद्रासे चेतकर उक्त सात श्रेणियोंमें कहे हुएत्यागद्वारापरमात्माकोप्राप्त करनेके लिये सत्पुरुषोंकी शरण ग्रहण करके उनके कथनानुसार साधन करनेमें तत्पर होना चाहिये। क्योंकि यह अतिदुर्लभ मनुष्यका शरीर बहुत जन्मोंके अन्तमें परम दयालु भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। इसलिये नाशवान्, क्षणभङ्गुर संसारके अनित्य भोगोंको भोगनेमें अपने जीवनका अमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहिये ।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

कुछ प्राचीन शास्त्र